ORIGINAL ARTICLE ISSN:- 2231-5063

Golden Research Thoughts

# स्वात्ंत्रयोत्तर हिंदी उपन्यासों में सामाजिक मूल्य

उमेश कुमार पाठक

शोधार्थी, संचार एवं मीडिया
अध्ययन केंद्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा.

***सारांश :-***

पश्चिमी देशों में उपन्यास की यथार्थवादी संरचना इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति सत्य की अभिव्यक्ति अपनी अनुभूतियों के आधार पर करता है। इस परिप्रेक्ष्य में दर्क़ात, लॉक, टॉमस रीड आदि ऐसे विचारक हैं जिनके अनुसार बाह्य संसार, जिसका अनुभव हम अपनी बोधेन्द्रियों द्वारा करते हैं, यथार्थ है। व्यक्ति और उसके चारो ओर फैला संसार ही यथार्थ को मापने का सबसे बेहतर और विश्वसनीय पैमाना है। विवेचनार्थ, मनुष्य के जीवन में वह सबकुछ, जिसे हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा जानते हैं, यथार्थ की सीमा में आ जाता है। वस्तुतः उपन्यास का संबंध यथार्थ की इसी पश्चिमी (यूरोपीय) अवधारणा से है। यही कारण है कि जब हम उपन्यास के कथा संसार की बनावट पर विचार करते हैं तो हमारी पहली अपेक्षा यह होती है कि वह हमारे इस यथार्थ बोध से कितना शासित है, कितना नियंत्रित है। हम प्रायः ऐसी कामना करते हैं कि कथा संसार का परिवेश बिल्कुल हमारे वास्तविक संसार जैसा ही हो। उपन्यासकार भी इस बात की कोशिश करता है कि उनके द्वारा प्रस्तुत कथा संसार वास्तविक प्रतीत हो। और, यथार्थवादी संरचना की यह अनिवार्य मांग है। क्योंकि, सामाजिक मूल्यों से अभिप्राय मनुष्य की सामूहिकता, जातीय सुरक्षा, सहानुभूति तथा संतानोत्पत्ति आदि मूल प्रवृत्तियों की दृष्टि से उन प्रतीक व प्रतिमानों से हैं जो

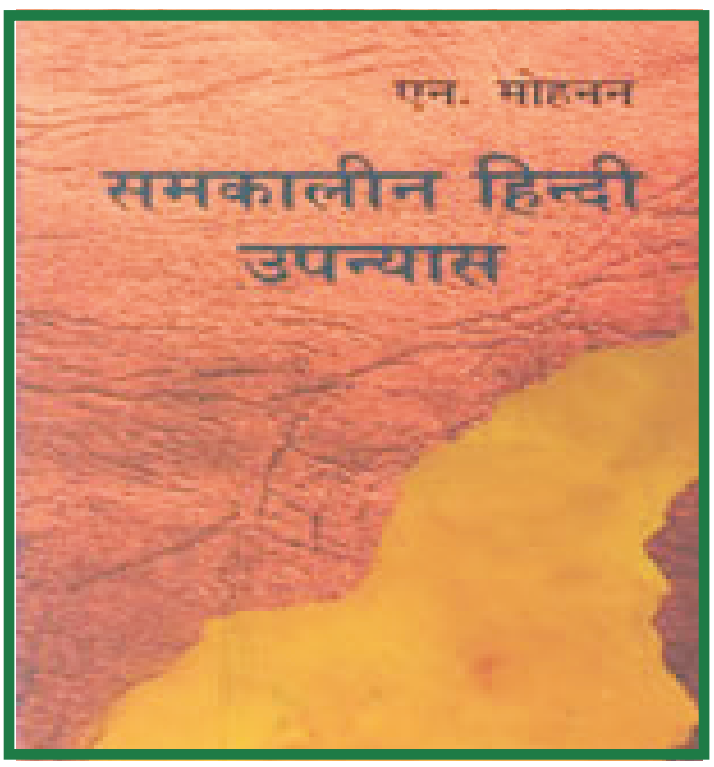


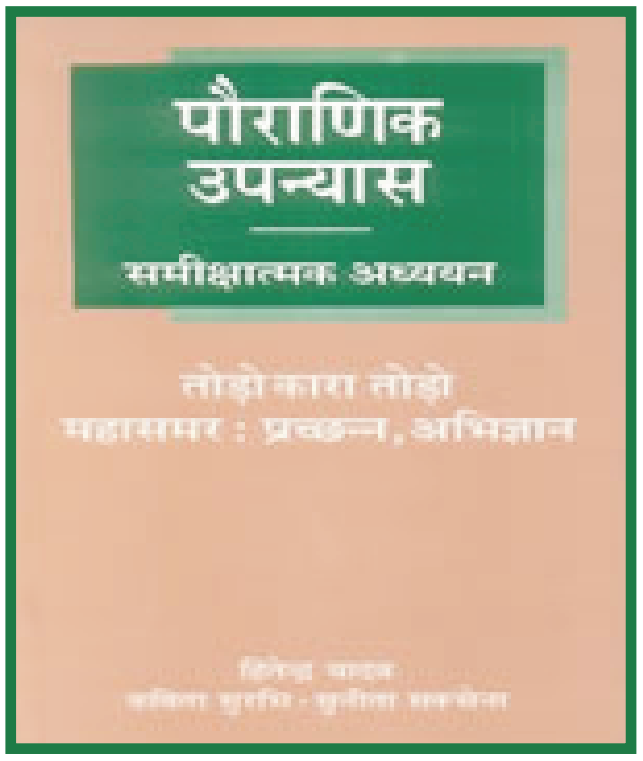


मनुष्य की सामाजिकता के उत्थान हेतु आवश्यक होते हैं। सामाजिक मूल्यों का आशय व्यक्ति की सामासिकता का उन्नयन करने वाली जीवन दृष्टियों से होता है। मनुष्य के मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक विकास क्रम के अनुसार सामाजिक मूल्यों का स्थान जैविक मूल्यों के बाद तथा मानविकी मूल्यों से पहले होता है। इस दृष्टि से सामाजिक मूल्यों का क्षेत्र मनुष्य के जैविक मूल्यों के संरक्षण एवं परिष्करण से लेकर सामाजिक प्रवृत्तियों के पोषण और मानवविकी मूल्यों की प्राप्ति तक फैला हुआ है। सामाजिक इकाइयों जैसे परिवार, जाति तथा आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के लोकहितकारी स्वरूप से संबंधित जीवन दृष्टि पारिवारिक, जातीय, आर्थिक तथा राजनैतिक आदि मूल्यों के रूप में संज्ञायित होती हैं।

***कुंजी शब्दः***

सामासिकता, लोकहितकारी, जैविक मूल्य, संयुक्त परिवार, लघु परिवार, मूल्य ह्रास, आत्मकेंद्रीयता, पुनर्विवाह, मातृत्व, जातीय चेतना, सांप्रदायिकता, अर्थ चेतना, राजनीतिक–सामाजिक अर्थशास्त्र.

***प्रस्तावना :-***

वर्तमान में सामाजिक मूल्यों के संघर्ष और संक्रमण की अनेक स्थितियां दृष्टिगोचर होती हैं। व्यक्तिवादिता की भावना एवं आर्थिक चेतना के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है और व्यक्तिवादी पारिवारिक रिश्तों का निर्माण हो रहा है। समाज में व्याप्त जातिवाद एवं सांप्रदायिकता की भावना के कारण सामाजिक एकता का अभाव तथा जाति और संप्रदाय विरोधी नवीन सामाजिक समानता के मूल्यों का प्रादुर्भाव हो रहा है। विवेचनार्थ, एक ओर अर्थवादिता एवं भोगवादिता के कारण आर्थिक मूल्यों का पतन हो रहा है तो दूसरी ओर वर्गीय चेतना के रूप में नवीन आर्थिक मूल्यों का उदय भी हो रहा है। इनके अतिरिक्त वैयक्तिक स्वार्थपूर्ति, राजनैतिक दलों की गुटबंदी एवं दलीय स्वार्थांधता के रूप में राजनैतिक मूल्यों के विघटन की स्थिति भी दिखाई दे रही है। व्यक्ति–केंद्रीयता के कारण पारिवारिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं में सामाजिकता की भावना का अभाव परिलक्षित हो रहा है तथा सामाजिक मूल्यों का ह्रास एवं नवीन मूल्य निर्माण की छटपटाहट भी दृष्टिगोचर हो रही है।

विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक संस्थायें तथा समाजवादी, सर्वोदयवादी आदि विचारधाराएं सभी व्यक्ति की स्वार्थपूर्ति के लिए मात्र साधन के रूप में अनुप्रयोगी हैं। इसलिए अब समाजवादी दृष्टिकोण का भी कोई महत्त्व नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में आज सामाजिक मूल्यों का निर्वाह भी विडंबनाओं से ग्रसित हो गया है।

***अध्ययन एवं विश्लेषणः***

वर्तमान परंपरागत पारिवारिक मूल्यों के विघटन का ज्वलंत प्रतीक संयुक्त परिवार का विघटन है। यद्यपि विघटन की यह स्थिति स्वतंत्रता से पूर्व ही उत्पन्न हो गई थी, किंतु उसमें स्वतंत्रता के बाद अधिक तीव्रता और व्यापकता आई है। संयुक्त परिवार प्रणाली भारतीय समाज और संस्कृति की रीढ़ रही है। सांस्कृतिक उन्नयन के लिए अपेक्षित प्रेम, दया, सहानुभूति, सहयोग आदि उच्च कोटि की संवेदनाओं का विकास संयुक्त परिवार में ही होना माना जाता है, किंतु आधुनिकता और व्यक्तिवादिता के प्रसार तथा औद्योगिकीकरण एवं नगरीकरण के विकास के साथ–साथ उक्त संवेदनाएं उदासीनता में परिवर्तित होने लगी है। परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार या तो टूट–टूट कर व्यक्ति–परिवार –इकाई परिवार में परिवर्तित होने लगे हैं अथवा फिर वे वैमनस्य, द्वेष और कलह के घर बनकर रह गए हैं।

मूल्य ह्रास की दृष्टि से संयुक्त परिवार के अन्य किसी भी कारण से हुए विघटन का उतना महत्त्व नहीं है जितना संयुक्त परिवार के सुचारू रूप से संचालन के लिए अपेक्षित जीवन दृष्टि के अभावस्वरूप हुए विघटन का है। स्वातंत्र्योत्तर काल में यह जीवन दृष्टि ही परिवर्तित हो गई है। संयुक्त परिवार प्रथा के सुव्यवस्थित रूप से संचालित होते रहने का कारण यह था कि परिवार के सभी सदस्यों में सौहार्दपूर्ण संबंध थे तथा परिवार के मुखिया, पिता या दादा–दादी के अनुशासन के अनुरूप ही परिवार का कार्य संचालन होता था। परिवार की संपत्ति का उपयोग घर की मुखिया की इच्छानुसार ही होता था। स्वातंत्र्योत्तर काल में यह स्थिति नहीं देखी जाती। उदाहरण के तौर पर खोया हुआ आदमी में परिवार के पिता और मुखिया श्यामलाल के "वश में कुछ नहीं रह गया.....वह कुछ फैसला नहीं ले सकते।" पत्थरों का शहर में रिटायर हुए नवल बाबू की भी यही स्थिति है। जवान लड़के और लड़कियों के पंख लग गए हैं। अब वे पिता के अनुशासन के घेरे से सहज ही उड़ सकते हैं। ".....सप्ताह भर के भीतर ही नवल बाबू को लगने लगा था कि वे अपने घर में नहीं, किसी सराय में वापस आए हैं, जहां किसी से उनका नजदीक का भी रिश्ता नहीं है। लड़के हैं तो उनका कोई मिज़ाज नहीं मिलता। लड़कियां हैं, तो इतनी सिर चढ़ी हो गई हैं जैसे उन्हें कभी पराए घर में जाना ही नहीं है।" पारस्परिक संबंधों के विघटन के परिणामस्वरूप नवल बाबू के परिवार में मूल्य संघर्ष इस स्थिति तक पहुंच गया है कि वे इसे बर्दाश्त नहीं कर पाते और वे अपना शहर दिल्ली छोड़कर इलाहाबाद लौट जाते हैं। आज आधुनिकता और व्यक्तिवादिता के प्रभाव के कारण व्यक्ति–स्वातंत्र्य बढ़ता जा रहा है। इसलिए अब समाज को साध्य मानने के स्थान पर समाज को तो साधन और व्यक्ति को साध्य माना जाने लगा है। अतः जहां व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधा होती है, व्यक्ति खुद टूटता है और दूसरों को भी तोड़ता है। व्यक्ति का स्वातंत्र्य का संयुक्त परिवार से मेल नहीं बैठता, इसलिए आए दिन घर के लड़कों, लड़कियों, बहुओं के झगड़े होते रहते हैं। परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार तेजी से विघटित होते जा रहे हैं। अवलोकनार्थ, चक्रबद्ध में देवरानी और जेठानी के संबंधों में तनाव है। छोटी की शिकायत है कि "बड़ी बंटवारा करना चाहती है, इसलिए घर में कोई–न–कोई तूफान उठाए रहती है। इन्होंने जिद्द पकड़ ली है कि अपनी तरफ से नहीं कहेंगे, जिस दिन बड़े कहेंगे, उसी दिन अलग हो जाएंगे।''

व्यक्ति के अपने विकास के आयामों में विस्तार होता जा रहा है जो अब संयुक्त परिवार की संकीर्णता में समाहित नहीं हो सकता। पद–पद पर संयुक्त परिवार के मूल्य व मान्यताएं उसके मार्ग में बाधा उत्पन्न करती हैं। उदाहरण के तौर पर परिवार में हर नया परिवार पुराने परिवार के चरमराते बूढ़े ढांचे पर मुस्कराकर कहता है –"खत्म करो अपने दकियानूसी तौर–तरीकों को। हमें आगे बढ़ने दो और ख़ामख़ां के लिए हमारी उन्नति के मार्ग में काहिलों की भीड़ जमा करने की कोशिश न करो। हमें नयी इमारत बनानी है। इस पुरानी बिना हवादार इमारत में अपने को बंद करके नहीं रख सकते।''

मध्यकालीन भारतीय मूल्यों के गढ़ गांव हैं और जब गांवों में भी पारिवारिक मूल्यों का ह्रास दिखाई दे रहा है तो पाश्चात्य संस्कृति की व्यक्तिवादिता से ग्रसित शहरों में तो संयुक्त परिवारीय मूल्यों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। महानगरीय परिवेश में तो लघु परिवार भी विघटन के दौर से गुजर रहे हैं। संयुक्त परिवारों का विघटन इसलिए प्रारंभ हुआ था कि उसमें लघु परिवारों का सहज विकास नहीं हो सकता था। और, अब लघु परिवार इसलिए टूटते जा रहे हैं कि उसमें व्यक्ति का विकास अवरूद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त महानगरों का वातावरण इतना अर्थ–संकुल और व्यस्त हो चुका है कि परिवार के सदस्यों के साथ बातचीत करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। बच्चे के पलक खोलने से पहले पिता काम पर चले गए होते हैं और बच्चों के निंदियाने पर ही काम पर से लौटते हैं। व्यक्ति को कार्यालयों और

कारखानों के काम के अलावा प्रतिदिन पंद्रह–बीस–पचास मील भीड़ भरी गाड़ियों में जाना और आना पड़ता है। इसलिए इस दौड़–भाग से थके–हारे पति के पास पत्नी से भी बात कर सकने का न तो समय रहता है और न सामर्थ्य ही। अगर पत्नी भी कामकाजी है तब तो पारिवारिक संपर्क और भी कम हो जाता है। और, ऐसी स्थिति में पारिवारिक मूल्य व मान्यताओं का निर्वहन मुश्किल हो जाता है। इसी संदर्भ में अमृत और विष के बाबू सत्यनारायण कहते हैं –"अजी अब बेटे बाप से कहते हैं कि साले तेरा एहसान क्या ? हम तेरी इच्छा से नहीं आये, एक नेचुरल प्रोसेस से आये हैं। उसमें बाप साले का क्रेडिट ही क्या होता है।" इसलिए सत्य नारायण के बेटे ने बाप को कसकर एक तमाचा जड़ते हुए कहा –''निकल साले घर से। निकल जा इसी दम। साला बाप बना है–निकल।'' सारतः संयुक्त परिवार से लघु परिवार और लघु परिवार से अकेले व्यक्ति तक की मनुष्य की सामाजिकता की प्रथम संस्था परिवार की सीमाएं सिकुड़ चुकी हैं। ऐसी स्थिति में परिवार के सामाजिक मूल्यों का ह्रास हुआ है और उसका स्थान व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने प्राप्त कर लिया है। अब या तो मनुष्य की पारिवारिकता को स्थान प्राप्त नहीं है और अगर है भी तो वैयक्तिकता पर आंच नहीं आने तक ही। अस्तु, पारिवारिक मूल्यों की दिशा व्यक्तिवादिता की ओर ही आंकी जा सकती है।

प्राचीन काल में पारिवारिक संबंधों को सौहार्दपूर्ण बनाए रखने में नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। आधुनिक युग की बौद्धिकता एवं व्यावसायिकता के परिणामस्वरूप परंपराबद्ध पाप–पुण्यमूलक धार्मिक धारणाओं का भय तो नहीं रहा, इसलिए पारिवारिक संबंधों को जोड़ने का एकमात्र आधार अर्थ ही शेष रह गया है। अब अर्थ के कारण जहां भी स्थितियों में तनाव उत्पन्न होने लगता है, वहीं पारिवारिक संबंधों की बखिया उधड़ने लग जाती है। आजादी के बाद भारत में बढ़ते औद्योगिकीकरण, शहरीकरण तथा अर्थाभाव एवं अर्थ–चेतना के परिणामस्वरूप पूर्व स्थापित पारिवारिक मूल्य लड़खड़ाने लगे हैं। परिवार का मुखिया अब पिता अथवा परिवार का सबसे बड़ा आदमी नहीं रहा, बल्कि परिवार का भरण–पोषण करने वाला व्यक्ति हो गया है। उदाहरणस्वरूप खोया आदमी में परिवार के मुखिया एवं तारा के पिता श्यामलाल के स्थान पर अब तारा कमाने लगी है। इसलिए " धीरे–धीरे फैसले लेने की ताकत तारा में समाती जा रही है। घर में किसे क्या जरूरत है और वह जरूरत जायज़ है या नहीं, इसका निर्णय भी उनके पास नहीं रह गया।" अर्थ केंद्रित पारिवारिक संबंधों एवं अर्थाभाव से टूटते हुए पारिवारिक मूल्यों का विस्तार के साथ अंकन इस उपन्यास में देखा जा सकता है। जब तक श्यामलाल सिंधी ट्रांसपोर्ट कंपनी में नौकर हैं और परिवार का भरण–पोषण कर रहे हैं तब तक तो सब कुछ सामान्य है, किंतु श्यामलाल की नौकरी छूटते ही जैसे पारिवारिक रिश्तों में एकदम से दरार पड़ गई है और परस्पर परायापन–सा महसूस होने लगता है। "इन पिछले दो–तीन वर्षों में चीजें अपने आप कैसे बदल गई थीं। लड़कियां बहुत अपनी थीं, परंतु जाने क्यों दूरी बढ़ गई थी। आपस में कहीं कुछ धीरे से पिघलकर बह गया था, जिसे वे अब महसूस कर रहे थे। चूंकि, रिश्तों को नया नाम नहीं दिया जा सकता, बाप–बेटी या मां–बेटी अब भी बाप–बेटी और मां–बेटी ही कहे जाएंगे, पर उनके बीच कोई चीज अनजाने में ही खो गई थी।''

प्राचीन भारतीय पारिवारिक मूल्यों के अनुसार लड़की के पालन–पोषण एवं विवाह का पूर्ण उत्तरदायित्व मां–बाप पर हुआ करता था। लड़की दान दिए हुए धन के समान समझी जाती थी तथा उससे किसी भी रूप में धन की प्राप्ति को पाप समझा जाता था। आधुनिक युग में बढ़ती हुई लघु परिवार एवं सुखवादी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप मां–बाप और पुत्री के संबंध एकदम परिवर्तित दिखाई देते हैं। क्योंकि, संतान के प्रति नैतिक दायित्व भी अब आत्म–सुखवादिता में विलीन हो गया है। प्राणों की प्यास की मिस बनर्जी मंत्री से अपने पिता की ओर से निश्चिंत रहने के लिए कहती है कि "उसकी चिंता मत करो। उन्हें शराब के लिए रूपये चाहिए। मैं कुछ करूं–कहीं रहूं, उन्हें उससे कोई मतलब नहीं।" छोटे साहब में अभावग्रस्त मां अपनी बेटी से ही अनैतिक व्यापार कराने के लिए तैयार हो जाती है। वह स्वयं ही दलाल के सामने अपनी बेटी को प्रस्तुत करते हुए कहती है.....''लेकिन छोकरी तो देखो, एकदम नई है। तुम्हारा ग्राहक लोग का तबीयत खुश हो जाएगा।" यहां अर्थ की ममता मां और बेटी के बीच की ममता को सोखकर दोनों के बीच एक व्यापारी और बाजारू वस्तु के अनात्मीय संबंधों को जन्म देती है। उखड़े हुए लोग में काम तुष्टि के लिए केशव स्वयं अपनी बेटी का दुरूपयोग करता है। सूरज बाबू केशव के लिए कहते हैं– "अपनी खास लड़की को घर में डाले रहा था। मुझसे तो बेशर्मी से हंस कर कह देता था–बाबू जी आम लगाया है, मेहनत की है, लू–धूप में रखवाली की है तो फल खाने का हक भी तो मेरा ही है.....।" जहां बाप ही अपनी पुत्री के साथ यौन–संबंध रखता हो, ऐसी पतित स्थिति को मूल्य विघटन ही माना जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास में अर्थ–लोलुपता के कारण पारिवारिक मूल्यों का विघटन न केवल मां–बाप की ओर से ही अंकित हुआ है, अपितु ऐसे भी अनेक स्थल ऐसे मौजूद हैं, जहां पुत्र अथवा पुत्री की आर्थिक स्वार्थपरता पारिवारिक मूल्यों के विघटन का कारण बन जाती है। अर्थ केंद्रित स्वार्थपरता के कारण खोया हुआ आदमी में बेटी की मां के प्रति परायेपन और हेय समझने की भावना का अंकन हुआ है। "तारा के पास पैसा भी इतना था कि आया रखी जा सकती थी।" किंतु पैसे की बचत के लोभ में तारा अपने पति हरबंस के सुझावानुसार आया की जगह अपनी मां को रख लेना सहर्ष स्वीकार कर लेती है। नौकर के स्थान पर मां–बाप का उपयोग करना आत्मीय रिश्तों का विशुद्ध व्यावसायिक धरातल पर आ जाने के रूप में पारिवारिक मूल्यों के ह्रास का ही परिचायक है।

भारतीय समाज में नारी की स्थिति पुरूष की तुलना में प्राचीन काल से ही हीन रही है। वैदिक काल से ही पुत्र को वंश–परंपरा के निर्वाह तथा मां–बाप की मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना गया था। इसलिए संतान में पुत्र को अधिक महत्त्व प्राप्त होता गया और पुत्री को कम। पुत्र और पुत्री संबंधी इसी असमानता ने ही आगे चलकर समाज में स्त्री के स्थान को हेय बना दिया। शून्य की बांहों में इसी मूल्य ह्रासात्मक स्थिति का मार्मिक चित्रण हुआ है। बड़ी ताई का कहना है–"बेटों से तो कुल की इज्जत बनी रहती है। पिण्ड दान यही तो करेंगे। ये छोकरियां तो हमें खाने भर को हैं..... इन्हें ऐसे रहना चाहिए कि बाहरवालों को पता भी न चले कि जीवित हैं या मर गईं " ताऊ जी कहते हैं–" लड़कियों को धमका कर रखा कर। धोबी के कपड़े –सी होती हैं, छोकरियां जितना ही पीटो उतनी ही शांत विनत बनेंगी।" हालांकि, समाज में नारी की उपर्युक्त स्थिति अब सुधरने लगी है। स्त्री–पुरूष समानाधिकार की तरह परिवार में भी पुत्र–पुत्रियों के साथ समानता का व्यवहार किया जाने लगा है। इसी उपन्यास में परिवर्तित स्थिति का भी अंकन मिलता है। पिताजी की

धारणाएं लड़कियों के प्रति बिल्कुल बदल जाती हैं। वे कहते हैं–"मैं अपनी लड़कियों की शादी नहीं करूंगा, पढ़ाऊंगा, नौकरी कराऊंगा ताकि वे अपना मनचाहा जीवन जी सकें।" इस प्रकार की बदली हुई धारणा समानता के नवीन मूल्य का ही परिणाम है।

समाज में लड़कियों के प्रति दुर्भावना के अतिरिक्त विधवा स्त्रियों की स्थिति भी अत्यंत दयनीय रही है। परिवार में विधवा के साथ अन्य सदस्यों के संबंध सौहार्दपूर्ण नहीं रहते थे। शून्य की बांहों में ही इस तथ्य का संकेत मिलता है। ''बड़ी ताई विधवा छोटी ताई की थाली पर बालिश्त भर की दूरी से दो रोटियां फेंक देती, ज्यादा खायेगी तो हाड़–मांस की देह छटपटाने लगेगी।.....बदन को सुखाकर कर रख नहीं तो कुल की नाक कटवायेगी। तुझे तो रोज खाना ही नहीं चाहिए।" भागे हुए लोग की विधवा भगवती और ओस की बूंद की छोटी ममानी आदि ऐसी स्त्रियां हैं जिनको समाज द्वारा न तो पुनर्विवाह की स्वीकृति ही प्राप्त होती है और न उनको समाज में आदर ही मिलता है। अमृत और विष की रानी का भी विवाह आदि मंगल कार्यों में आना–जाना वर्जित है। किंतु, अब नारी चेतना के कारण विधवायें पुनर्विवाह के प्रति सजग दिखाई देती हैं जो कि बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का ही सामाजिक प्रभाव है।

पारिवारिक संबंधों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संबंध पति–पत्नी का होता है। भारतीय संदर्भ में आजादी के बाद पारिवारिक मूल्यों का समग्र अध्ययन करने के लिए पति–पत्नी संबंधों का आकलन करना अत्यंत आवश्यक है। अवलोकनीय के साथ–साथ विवेचनीय है कि हमारे समाज में आधुनिकता और नवीन शिक्षा के प्रचार–प्रसार और नारी चेतना के बावजूद भी पति–पत्नी के परंपरागत संबंध वर्तमान हैं। मनुस्मृतिकालीन संबंधों के अनुसार पत्नी पति को देवता के समान पूज्य मानती है। वह पति के लिए अपने आप को समर्पिता समझती है। अब नारी चेतना के कारण विधवायें पुनर्विवाह के प्रति सजग दिखाई देती हैं जो कि बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का ही सामाजिक प्रभाव है। अब नारी चेतना के कारण विधवायें पुनर्विवाह के प्रति सजग दिखाई देती हैं जो कि बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का ही सामाजिक प्रभाव है।

दरअसल, पति के गुण, स्वभाव, कर्म आदि को आधार बनाकर पातिव्रत्य धर्म का पालन करती है। हजारों वर्षों से चले आ रहे ये संस्कार आज भी हमारे समाज में विद्यमान हैं। ''पति है, यही स्त्री के लिए बहुत है। घर के बाहर उसकी चार प्रेमिकाएं हैं या दस, न यह पता ही चलता था और न ही इस कारण वह दुखी ही हो पाती थी। शराबी, कोढ़ी पति उसे पुचकार देता तो उसकी देह धन्य हो जाती, जीवन सार्थक''–शून्य की बाहों में अंकित यह प्राचीन धारणा स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी देखी जा सकती है। भागे हुए लोग की पारवती तो अपने पति नरोत्तम जो कि दूसरा विवाह करने जा रहा है, से कहती है कि "मैंने तो अपने सुख को तुम्हारे सुख से कभी अलग समझा ही नहीं.....अगर तुम समझते हो कि दूसरी को लाने के बाद तुम्हारा मन ज्यादा रम सकता है.....तो मुझे क्या दुख होगा।" कब तक पुकारूं के नट परिवार की कजरी भी सबकुछ सहने को स्वीकार कर एक ही भीख मांगती है कि ''मेरी अर्थी उठे तो भी मेरा सुहाग बना रहे।"

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में पति–पत्नी संबंधों की प्राचीन धारणा के प्रति दृढ़ विश्वास अधिकांशतः या तो पुरानी पीढ़ी की वृद्धाओं जो कि प्राचीन संस्कारों में ही जन्मी ओर पली हैं, में देखा जाता है या फिर ग्रामीण समाज में जहां कि अब भी प्राचीन संस्कारों को ही अपनाया जाता है। शहरों की नवीन चेतना को अपनाने वाली नारी में नए मूल्यों और पुरानी परंपराओं के द्वंद की स्थिति जन्म ले चुकी है। यद्यपि इस नारी वर्ग में परिस्थिति की जटिलता एवं जीवन की यथार्थपरकता को समझने की चेतना तो है, लेकिन उसके मस्तिष्क में प्राचीन संस्कार और सामाजिक परंपराएं इनती मजबूत और गहरी हैं कि वह उनसे उबर ही नहीं पाती। इसलिए उसमें एक ओर प्राचीन संस्कारों को स्वीकारने का मोह है तो दूसरी ओर उसको त्याग देने का विद्रोह भी। किंतु अंत में तथाकथित आधुनिक नारी भी अधिकांशतः पति–पत्नी के संबंध के रूप में प्राचीन वैवाहिक व्यवस्था को ही स्वीकारती हुई देखी जाती है। गुनाहों का देवता में पम्पी इसी निष्कर्ष पर पहुंचती है कि "धर्म और सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर हिंदू विवाह की रीति बहुत वैज्ञानिक और नारी के लिए सबसे ज्यादा लाभदायक है।"

पारिवारिक मूल्यों का विवेचन विवाह–संबंधी धारणाओं के बिना अपूर्ण रह जाता है, क्योंकि परिवार का मूलभूत संबंध पति–पत्नी का संबंध है और इस संबंध का स्वरूप निर्धारण विवाह पद्धति के अनुसार निश्चित होता है। इतना ही नहीं भारत में प्राचीन काल से ही नारी अपने जीवन की सार्थकता विवाह में ही मानती आई है। आधुनिक युग में भी संस्कारग्रस्त भारतीय नारी जीवन की पूर्णता पति के साथ ही स्वीकार करती है। समाज में नारी के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण के बावजूद भी प्राचीन मान्यताओं ने अभी पीछा नहीं छोड़ा है। " .....अभी भी स्त्री को एक छाया की जरूरत होती है, नहीं तो उसका जीना लोग–बाग हराम कर दें।'' क्योंकि समाज में स्त्री के प्रति परंपरागत पवित्रतावादी मूल्य–धारणा अभी पूर्णतः समाप्त नहीं हुई है। आज के वैज्ञानिक और प्रगतिशील युग के बावजूद नारी स्वातंत्र्य संबंधी बड़ी–बड़ी भाषण मालाओं के, ये लोग महिलाओं को सहज प्राप्य और ब्राह्मण घर की मिट्टी की हांडी से ज्यादा कुछ नहीं समझते– "ऐसी हांडी जो किसी भी दूसरे के स्पर्श से अपवित्र होती है या जिसे पुरूषों के अण्डे की तरह सहेज कर रखना पड़ता है–जाने कौन सा स्पर्श अपवित्र कर दे या कौन सा धक्का उसे तोड़ दे।'' पुरूष प्रधान संस्कृति में चरित्र का प्रश्न स्त्री के लिए ही है, "किसी स्त्री को कोई चाहने लगे तो बदनामी स्त्री की है.....स्त्री–पुरूष अपराध करें तो दंड स्त्री भोगे।.....परीक्षा हो तो वह भी स्त्री की हो।'' कब तक पुकारूं में प्यारी का व्यंग्य भी इसी संदर्भ में देखा जा सकता है– "वह तो तू मरद है सो तेरे पाप पाप नहीं, मेरे पाप पाप है?''

मातृत्व का मूल्य नारी के जीवन को पूर्णता और सार्थकता तो प्रदान करता ही है, उसकी सृजनशीलता की भावना को भी तृप्त करता है। प्राणों की प्यास की मिन्नी तो अपने मातृत्व के अभाव में रोती है, सुबकती है। यहां तक की मिट्टी के शिशु के गले में बाहें डाले गर्दन तक शरीर को उघाड़े उसे अपने आंचल का दूध पिलाने की कोशिश करती है। यह मातृत्व के मूल्य की पराकष्ठा है जहां नारी संतान प्राप्ति के लिए उन्माद की अवस्था तक पहुंच जाती है। इसी संदर्भ में कब तक पुकारूं की कजरी के इस कथन से मातृत्व संबंधी धारणा ही पुष्ट होती है– "लुगाई मां बने और वह पाप हो जाये। लुगाई की कोख तो धरती माता है। धरती कहीं पाप करती है?'' इस प्रकार नट जाति में भी मातृत्व संबंधी मूल्य का

महत्त्वपूर्ण स्थान है। दरअसल मातृत्व की भावना नारी को शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही दृष्टियों से तृप्त करती है, इसलिए उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए अपेक्षित इस प्रकार से भावना के मूल्य के अंतर्गत सम्मिलित करना अनिवार्य हो जाता है।

पश्चिम के प्रभाव से भारतीय समाज में व्याप्त भोगवादिता तथा अधकचरी आधुनिकता ने स्त्री–पुरूष संबंधी मूल्यों के अतिरिक्त मातृत्व संबंधी मूल्य को भी विघटित कर दिया है। आधुनिक पुरूष वर्ग में जहां एक ओर भोगवादी दृष्टिकोण प्रबल होता जा रहा है इसलिए वह अपनी पत्नी को सदैव आकर्षण से भरपूर और चिर–यौवना के रूप में देखना चाहता है। उदाहरणस्वरूप राजुल के सुनील को बाप बनने की कतई ख्वाहिश नहीं है। "तुम सदैव ऐसी ही रहो जवान। पर तुम, तुम क्यों चाहती हो मां बनना, नौ माह तक बच्चे के बोझा को ढोना। छिः उस वीभत्स आकार को मैं देखना नहीं चाहता।..... क्योंकि, मुझे अपने विकास के लिए, तुम्हारी सुख–समृद्धि के लिए, तुम्हारी–सी ही कमसिन बुद्धिमान औरत चाहिए। मैं नहीं चाहता, तुम्हारी कमर सत्रह इंच से अधिक हो, तुम कभी मां बनो।" सूखा सैलाब के कैलाश को भी इधर बच्चा, उधर बच्चा, ढीली देह, हो–हल्ला, चीं–चीं, पें–पें वाली पत्नी नहीं चाहिए। वह कहता है–" मुझे बच्चा ही नहीं चाहिए, कभी नहीं–मुझे केवल तुम–बस तुम।''

आलोच्य संदर्भ में पुरूषों के अतिरिक्त कुछ ऐसी नारियां भी अंकित हुई हैं, जिन्हें मां बनकर निर्बल और असहाय बनना पसंद नहीं है। दायरे की सिद्धेश्वरी को यह पसंद नहीं कि "दस चंद्रमास तक स्त्री उसका बोझ वहन करे और फिर वह संतान पेट से बाहर आते समय अत्यंत वेदना उत्पन्न करे। यह सब स्त्री के साथ प्रकृति का अन्याय है।" इसलिए वह स्त्री के गर्भवती होने के बात का विरोध करती है। इसी विचारधारा के दुष्परिणामस्वरूप गर्भपात की घटनाओं में बहुतायत वृद्धि हुई है। गर्भपात के रूप में मातृत्व के मूल्य का विघटन सामाजिक कट्टरता के परिणामस्वरूप भी हुआ है। कब तक पुकारूं की सूसन आदि नारियां इसी कट्टरता के शिकार के रूप में अंकित हुई हैं। जो भी हो मातृत्व के मूल्य का संकट आज का मार्मिक व उल्लेखनीय तथ्य है।

भारतीय समाज में आज भी आदमी के परिचय की शुरूआत उसकी जाति से होती है। "आप कौन हैं?– के सवाल का प्रत्येक भारतीय के पास यही एक आसान जवाब है कि वह शीघ्र ही अपनी जाति का नाम बता दे। उदाहरण के तौर पर उखड़े हुए लोग में प्रोफेसरनी को जया की जाति का पता नहीं है, इसलिए जया के छूने से ही उनका "दस आने का घड़ा खराब हो गया। जाने कौन जात की है गी, यह कम्बख़त रांड।'' स्वाधीन भारत में जातीय भेदभाव की समस्या और उग्र हो गई है। औद्योगिकीकरण और महानगरीकरण के कारण विभिन्न जाति ओर प्रांत के लोगों के सह–जीवन के अतिरिक्त देश विभाजन के कारण विस्थापितों के साथ ने जातीयता के घेरों की संकीर्णता और जटिलता को और बढ़ा दिया है। जातीय चेतना अधिक सजग होकर पारस्परिक सौमनस्यपूर्ण संबंधों में बाधक हो जाती है। झूठा सच में सरोज अपने पड़ोसी यू.पी., बिहार के परिवारों की रूखाई की शिकायत करती है। वह उनके यहां अपने यानी कि पंजाबी परिवार में बनाए हुए साबुत उद्र देने गई तो कायस्थिन ने यह कहकर कि "हमलोग देसरों के घर का नहीं खाते" लेने से इंकार कर दिया।.....क्योंकि केवल हिंदू होने से क्या..... –अपना–अपना रीति–रिवाज है।'' जातीय कट्टरता भारतीय मुस्लिम समाज में भी विद्यमान है। ओस की बूंद में शहला का वहशत से ब्याह नहीं हो सकता, क्योंकि वहशत जुलाहा है। और वह मुस्लिम राजपूत खानदान की है।

हमारे समाज में जाति–व्यवस्था का दुष्परिणाम केवल शादी–विवाह तक ही सीमित नहीं है, अपितु वह शैक्षणिक, नैतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में विराजमान है। "सरकारी स्कूलों को छोड़कर कौन–सा स्कूल है जिले में, जो किसी जाति विशेष के आधिपत्य में न हो। ब्राह्मणों के अपने स्कूल हैं, कायस्थों के अपने, अहीरों के अलग, अग्रवालों के अलग, हर जाति का सर्प फन फैलाए बैठा है। परतीःपरिकथा में चमरू चौधरी हाई स्कूल को दि ब्राह्मण एस. ई. स्कूल बना दिया गया है। "गत पांच वर्षों में इस स्कूल में कोई हैडमास्टर नहीं टिक पाते, जाति और पंचायत के झगड़े इतने अधिक और प्रभावकारी होते हैं कि स्कूलों का शिशु मानस प्रारंभ से ही जातिवाद के चंगुल में ग्रस्त हो जाता है।" परतीःपरिकथा में ही "कायस्थ डॉक्टर .....पैसा लेकर भी दूसरी जातिवालों को बढ़िया दवा नहीं देता और कायस्थों को मुफ़्त में दवा और सूई देकर इलाज करता है।

आज की राजनीति तो जातिवाद में बुरी तरह फंसी हुई है। चुनावों में राजनैतिक विचारधारा के आधार पर या व्यक्ति की योग्यता के आधार पर मत प्राप्त नहीं किए जाते, बल्कि जाति के आधार पर चुनाव लड़े जाते हैं। रागदरबारी में रिपुदमन सिंह और शत्रुघ्न सिंह दोनों एक ही जाति के हैं, इसलिए जाति के ऊपर वोटों का बंटवारा होने में दिक्कत पड़ गई।'' क्योंकि, वोट देने का एकमात्र आधार जाति ही होता है। इस प्रकार जातिवाद राजनैतिक चुनावों में एक सशक्त माध्यम बन गया है। अपने जाति भाई के हाथ में ही सत्ता आने को अपने ही शक्ति–वृद्धि मानने वाले तथा उनके नेतृत्व में अपने–आपको अधिक सुरक्षित समझने वाले आम लोग इस कार्य में सोत्साह सहयोगी एवं सहभागी होते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति ने जातीय संकीर्णता को बढ़ावा देकर राष्ट्रीय एकता के व्यापक मूल्य का ह्रास किया है। हालांकि, आजादी के बाद राजनीतिक और सामाजिक चेतना के परिणामस्वरूप निम्न जातियों में संगठन की भावना अधिक विकसित हुई है, क्योंकि समाज में अपने अस्तित्व को साबित करने की चुनौती भी उन्हीं के लिए थी। सरकार द्वारा निम्न जातियों को दिए गए समर्थन तथा सामाजिक चेतना के परिणामस्वरूप निम्न जातियां अब खुद को उच्च जातियों के समान समझती हैं। नदी का मोड़ में डोम जातियों में अब चेतना पैदा हुई है। वे अब उच्च जाति के दमनपूर्ण एवं भेदभाव पूर्ण रवैये को बर्दाश्त नहीं कर सकते। वे कहते हैं– "हम ठाकुरों को बता देंगे कि आबरू हमारी भी है। हम डोम और गरीब हैं तो क्या, अपनी बहू–बेटियों की लाज़ रखना जानते हैं।''

भारतीय समाज सैकड़ों वर्षों से सांप्रदायिकता के चंगुल में रहा है। सांप्रदायिकता देश की चेतना में इतनी बुरी तरह घुल–मिल गई है कि कि इससे मुक्त ही हो पाना सहज नहीं है। हिंदू–मुस्लिम सांप्रदायों की की तनावपूर्ण स्थिति के कारण हिंदुस्तान–पाकिस्तान बंट गया, लेकिन हिंदू–मुसलमान समस्या अब भी जहां की तहां–सी लगती है। यथार्थवादी चर्चित उपन्यासकार राही मासूम रज़ा ने 'आधा गांव', 'टोपी शुक्ला' और 'ओस की बूंद' में भारतीय समाज में हिंदू–मुस्लिम सांप्रदायिकता के कारण हो रही सामाजिक मूल्य विघटन की जन मानस में होने वाली नाजुक प्रतिक्रियाओं

का अंकन किया है। आजादी के बाद भारत में हिंदू–मुस्लिम संबंधों का सवाल इतना पिलपिला घाव हो गया है कि कहीं से भी उसे छू दो वह रिसने लगता है। देश का सांप्रदायिक इतिहास इतना द्वेषपूर्ण रहा है कि थोड़ा भी याद करने पर वह वर्तमान को दुखी कर जाता है,उसे रूला जाता है। ओस की बूंद के अनुसार आज के नवयुवक ने "दिल्ली और लाहौर और जालंधर और कलकत्ता और नोआखाली और ढाका और रावलपिंडी और छापरा की कहानियां सुनी हैं नंगी मुसलमान औरतों का जुलूस निकाला गया और उनकी शर्मगाहों में तेज़ाब डाला गया।.....औरतों की छातियां काटकर उनके साथ ज़िना किया गया। बच्चे नेज़ों पर उछाले गए।''

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के समान सांप्रदायिकता की जकड़न रोटी–व्यवहार और बेटी–व्यहार दोनों में ही विशेष रूप से दिखाई देती है। त्याग का भोग की मनिया जानती है कि गांव वाले जब यह जान लेंगे कि "ईसाई लड़की से विवाह किया है तो विवाह की बात से बहुत भड़क उठेंगे।'' इसी तरह झूठा सच में "असद और तारा के विवाह का निर्णय कर लेने पर भी बीच में संप्रदाय, धर्म और बिरादरी की बहुत बड़ी खाई है।'' यद्यपि, इस स्वार्थ के संकीर्ण दायरे में सांप्रदायिकता अब भी कभी अस्त्र और कभी ढाल के रूप में प्रयोग की जाती है, किंतु वर्तमान परिवेशजन्य जटिलता ने व्यापक क्षेत्र में अब सांप्रदायिकता के पंख भी काटने शुरू कर दिए हैं। उदाहरण के तौर पर सीमाएं में "युद्ध के समय मजहब को बीच में घसीटने के लिए भारत के मुसलमान ने भी पाकिस्तान की कड़ी निंदा की है।''

भारत में राजनैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद देश का लक्ष्य सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में समानता प्राप्त करना था। किंतु लंबे समय की अर्थ विपन्नता से क्षुब्ध भारतीय समाज के लिए अर्थ का आकर्षण प्रबल होने के कारण उसका ध्यान अर्थ–प्राप्ति की ओर अधिक रहा है, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास की ओर कम। यह सच है कि भारतीय अर्थव्यवस्था को यहां सुदृढ़ सांस्कृतिक परिवेश ने दूर तक प्रभावित किया है, किंतु स्वातंत्र्योत्तर काल में बढ़ रही व्यक्ति की अर्थ चेतना के समक्ष उसकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना पिछड़ गई है। इसके चलते व्यक्ति की अर्थ चेतना सांस्कृतिक चेतना पर हावी होती हुई देखी जा सकती है। और, जब समाज का चिंतन अर्थ प्रधान बनता जा रहा हो तब व्यक्ति के लिए अर्थ स्वभावतः एक महत्त्वपूर्ण एवं अपेक्षित तत्व सिद्ध हो जाता है। सुखदा में लाल कहता है– ".....इसीलिए आत्म नीति और धर्म नीति को बाद में देखा जायेगा, अर्थ नीति को पहले देखना होगा।'' छोटे साहब में विभूति की मां विभूति को कहती है– "तू दरोगा बनता तो घर रूपयों से पट जाता। खैर डॉक्टरी भी कुछ बुरी नहीं है। भगवान करे तू जहां भी रहे वहां महामारी फैल जाय और तू सोने का पहाड़ खड़ा कर दे।'' इसी अनुक्रम में नारी का मन के केशवचंद्र का अनुभव है कि पैसे और पद के कारण व्यक्ति को आदर, स्वामित्व, मित्रता और परिचय मिलता है। संसार में आदमी का मूल्य पद, प्रतिष्ठा और पैसे से आंका जाता है।'' उखड़े हुए लोग में देशबंधुजी आज के व्यक्ति की मूल कमजोरी को समझते हुए कहते हैं– "रूपया। रूपया हरेक कमजोरी है बंधु.....आप उसे गाली देते हुए लें या लार टपकाते हुए –परिणाम यही चाहते हैं कि दूसरे का रूपया आपकी जेब में आ जाय।"

हालांकि, आदर्श अर्थव्यवस्था का लक्ष्य येन–केन प्रकारेण अर्थ कमाना नहीं होता, अपितु समाज कल्याण को ध्यान में रखते हुए अर्थोपार्जन करना होता है। समकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में पूंजीपति, सरकार और मजदूरों का संघर्ष बराबर चलता रहता है। कारखानों में मजदूर कभी अपनापन महसूस नहीं कर पाते और पूंजीपतियों का भी मजदूरों के साथ का संबंध सहानुभूतिपूर्ण नहीं होता। किंतु अमृत और विष के हाजी नबीबख़्श एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने "हर काम में मजदूर को भी हिस्सेदार बना रखा है। हाज़ी के यहां सब नौकर हैं खुद हाजी भी। व्यक्तिगत मुनाफे की सीमाएं सबकी निश्चित हैं। हाज़ी के यहां हड़तालें नहीं होती। मजदूर इज्ज़तदार आदमी माना जाता है, उसकी सुख–सुविधाओं का प्रबंध है।'' आलोच्य संदर्भ में हाज़ी की इस अर्थव्यवस्था का उल्लेख इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें आर्थिक मूल्यों को ध्यान दिया गया है। हालांकि, भारतीय अर्थव्यवस्था में ऐसे उदाहरण कम ही देखने को मिलते हैं।

कहना गलत न होगा कि स्वाधीन भारतीय समाज में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था राज्य रहा है। राजनीति के निर्णयों ने ही भारतीय समाज को सबसे अधिक प्रभावित किया है। अन्यान्य समाजवादी एवं साम्यवादी देशों के समान भारतीय शासन व्यवस्था भी जीवन के इतने अधिक निकट आ गई है कि इसे उपेक्षित कर जीवन की कोई भी योजना तैयार नहीं की जा सकती, चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो या आर्थिक क्षेत्र हो या राजनैतिक क्षेत्र। चूंकि, आज की राजनीति आर्थिक आधार पर प्रतिष्ठित होती है, इसलिए जीवन की रोटी–रोज़ी से लेकर कारखाने, दुकान और कार्यालय तक राजनीति का ही मुखापेक्षी होना पड़ता है। राज्य के इस बढ़ते हुए कार्यक्षेत्र के कारण समाज में राज्य की नीतियों एवं उनकी कार्यान्विति का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

मूल्यों के संदर्भ में इसी तथ्य को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि समाज के सभी प्रकार के मूल्यों के स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से राजनैतिक मूल्यों का उल्लेखनीय स्थान है। आजादी के पहले भारतीय समाज में राष्ट्रीयता का मूल्य ही सर्वोपरि मूल्य रहा है। विदेशी शासन राष्ट्रीयता के मूल्य निर्वाह के लिए सबसे बड़ी चुनौती के रूप में था। देश की आजादी के साथ ही राष्ट्रीय मूल्यों का संघर्ष कम हुआ और विभिन्न रियासतों के विलय एवं भारत के गणराज्य संविधान की स्थापना के बाद तो राष्ट्रीय मूल्य पूर्णतः संघर्षमुक्त हो गए। किंतु , इसकी दुष्प्रतिक्रिया यह भी हुई है कि समाज में विद्यमान जातीय, सांप्रदायिक, सांस्कृतिक, भाषिक आदि भिन्नताएं उभरने लगी हैं। भारत के एक राष्ट्रीय इकाई के रूप में गठित हो जाने के बावजूद भी देश का राष्ट्रीय बोध अराष्ट्रीय तत्वों से खंडित होता रहा है। आजाद होते ही हर किसी को अपनी भाषा और अपने प्रांत की चिंता होने लगी है। हम आज पहले बंगाली, मद्रासी या महाराष्ट्रीयन हैं, भारतीय बाद में। लोहे की लाशें का नाथूलाल टूटती हुई राष्ट्रीयता की भावना का कारण बताते हुए कहता है कि "प्रांतीयतावाद सिर उठा रहा है। भारतमाता को भूलकर कोई महाराष्ट्र माता की जय बोलता है, कोई कर्नाटक माता के नाम के नारे लगाता है। हर किसी ने अपनी एक–एक प्राइवेट प्रांतीय माता का आविष्कार कर लिया है।" लंबी अवधि तक सपने देखने के बाद अब शहर, कस्बे और गांव सभी के सपनों का मोह भंग हो गया है। ओस की बूंद में वज़ीर हसन को अपना देश अजीब लगता है–"यहां राजनीति विचारों से नहीं पहचानी जाती, बल्कि टोपियों से पहचानी जाती है।अधिकतर लोगों के पास कोई विचारधारा होती ही नहीं ....केवल टोपियां होती हैं.....सवाल विचारधारा का नहीं, सवाल टोपियों का है और इसीलिए तो लोकसभा में कबड्डी होती रहती है।"

## निष्कर्ष:

हमारा समकालीन परिवेश इतना भ्रष्ट और नीति शून्य हो चुका है कि इसने सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था के प्रति आम जनता की आस्था और विश्वास को पूरी तरह से तोड़–मरोड़ दिया है। ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार के मूल्यों का विघटन पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है। स्वाधीन भारत की त्रासदी यह है कि हमारा भारतीय समाज राजनेताओं के द्वारा दिखाए गए स्वपन्नों और उनके द्वारा दिए गए आश्वासनों की दौड़ में थक चुका है। अब न तो उसमें इस प्रकार की दौड़ दौड़ने की शक्ति शेष रह गई है और न ऐसी खोखली दौड़ का विरोध करने का सामर्थ्य ही। भारतीय समाज के लिए यह मूल्य जड़ता की स्थिति इसीलिए सबसे ज्यादा गंभीर हो गई है, क्योंकि अब मूल्य ह्रास की प्रतिक्रिया मज़ाक अथवा तटस्थता की हद तक पहुंच चुकी है।

समग्रतः वर्तमान के असंतोष और समाज की व्यवस्था ने व्यक्तियों को इतना हताश कर दिया है कि वे आत्म सुख की जरा –सी भी सुविधा को छोड़ना नहीं चाहते हैं। वे सब समय विकराल वास्तविकता को अपने आगे मुंह बाये खड़ा पाते हैं और उसे भूलने के प्रयत्न में सब समय अपने को भी भूले रहने के साधनों को खोजते रहते हैं। फिर ये साधन चाहे भोगवादिता पर आधारित हों या चाहे हिंसा एवं तोड़–फोड़ पर। क्योंकि, स्वतंत्र भारत के नागरिक आज भी अकेलेपन की कैद से छटपटाता हुआ अदना–सा एक आर्थिक संघर्ष है–मरता हुआ सा मानवीय आक्रोश है–और उकताहट के उजाड़ में सुख, दुख, प्यार, नफ़रत, उदासी, और उत्तेजना के पौधे रोपने की असफल चेष्टायें हैं। इस स्थिति का एकमात्र उपाय यही है कि जो पुराना है, जो सड़ चुका है, उसे समाज के शरीर से अलग कर देना ही हितकर है। और, अवांछित के उन्नमूलन में ही वांछित की उत्पत्ति निहित है। और, यही सामाजिक मूल्य–ह्रास और मूल्य–निर्माण के विषय में भी माना जा सकता है।

## आधार ग्रंथ–सूची:

1.खोया हुआ आदमी : कमलेश्वर
2.पत्थरों का शहर : सुरेश सिन्हा
3.चक्रबद्ध : रमेश उपाध्याय
4.परिवार : यज्ञदत्त शर्मा
5.अमृत और विष : अमृतलाल नागर
6.प्राणों की प्यास : मधूलिका
7.छोटे साहब : भगवती प्रसाद वाजपेयी
8.उखड़े हुए लोग : राजेंद्र यादव
9.शून्य की बांहों में : शान्ति जोशी
10.भागे हुए लोग : शैलेश मटियानी
11.ओस की बूंद : राही मासूम रज़ा
12.कब तक पुकारूं : रांगेय राघव
13.गुनाहों का देवता : धर्मवीर भारती
14.राजुल : शान्ति जोशी
15.सूखा सैलाब : निर्मला वाजपेयी
16.दायरे : गुरूदत्त
17.झूठा सच : यशपाल
18.परतीःपरिकथा : फणीश्वरनाथ रेणु
19.रागदरबारी : श्रीलाल शुक्ल
20.नदी का मोड़ : श्रीराम शर्मा 'राम'
21.सीमाएं : मनहर चौहान
22.सुखदा : जैनेंद्र कुमार
23.नारी का मन : विश्वम्भर मानव
24.लोहे की लाशें : सुदर्शन मजीठिया

## सहायक संदर्भ ग्रंथ–सूची:

1.हिंदी उपन्यासः एक अंतर्यात्रा : रामदरश मिश्र
2.साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन : सं. निर्मला जैन
3.स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास : मूल्य संक्रमण : हेमेंद्र कुमार पानेरी
4.हिंदी उपन्यास : युग चेतना और पाठकीय संवेदना : मुकुंद द्विवेदी
5.हिंदी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन : चण्डीप्रसाद जोशी

.
.
.